

तनाव से पास-पास आएंगे सामाजिक विज्ञान और जीव विज्ञान

पी. बलराम

आज की आधुनिक जीवन शैली में तनाव या स्ट्रेस बहुत ही सामान्य बात है। अकादमिक संस्थानों में परीक्षाओं के समय विद्यार्थियों को तनाव की स्थिति से गुज़रना ही पड़ता है। स्कूली अध्ययन के अंतिम वर्षों के दौरान उन पर यह तनाव बहुत अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि उन्हें आगे प्रतिस्पर्धी परीक्षाएं नज़र आने लगती हैं। इन परीक्षाओं के लिए व्यापक तैयारी ज़रूरी होती है।

शोधार्थी जैसे तो परीक्षाओं के तनाव से परे रहते हैं, मगर उन्हें भी ऐसे ही तनाव या दबाव का सामना करना पड़ता है। यह तनाव होता है सफलतापूर्वक पीएच.डी. थीसिस पूरी करके शोध के गुणवत्ता पूर्ण व पर्याप्त परिणाम हासिल करने का। शोध कार्य एक अनिश्चित उद्यम है, जिसमें शोध प्रबंध को तैयार करने में सालों की मेहनत लगती है, अपने सुपरवाइज़र के साथ लंबे समय तक पारस्परिक संवाद में रहना पड़ता है। शोध संस्थानों में कई बार शोधार्थियों व मार्गदर्शकों के बीच सम्बंध तनावपूर्ण हो जाते हैं। मानवीय संवाद में यह कोई अनहोनी बात नहीं है। सुपरवाइज़र्स भी नतीजे पेश करने और उन्हें प्रकाशित करने को लेकर अक्सर दबाव में रहते हैं, ताकि अपने खुद के रिसर्च कैरियर में उन्हें आगे भी अनुदान मिलता रहे। यही तनाव शोधार्थियों की तरफ हस्तांतरित हो जाता है। शोध प्रयोगशालाओं में कार्य करने वाले असली कर्मी तो यही होते हैं। इसलिए अकादमिक संस्थानों में ऐसे कई नाखुश लोग मिल जाएंगे जो दबाव और तनाव का सामना करने में दिक्कत महसूस करते हैं।

मैं निराश और हतोत्साहित लोगों को व्यक्तिगत तौर पर परामर्श देता आया हूँ। एक दिन अचानक मुझे ऐसा आमंत्रण मिला जो मेरे लिए सुखद आश्चर्य था। मुझे वेब आधारित एक ऐसी 'चैट साइट' के उद्घाटन के लिए आमंत्रित

किया गया था, जिसके ज़रिए अनुभवी परामर्शदाता त्वरित और आसान परामर्श उपलब्ध करवाएंगे। परामर्श चाहने वालों का नाम भी गोपनीय रखा जाएगा। किसी का ध्यान आकृष्ट किए बगैर अगर किसी हतोत्साहित व्यक्ति को कोई परामर्श मिलता है तो इससे बड़ी राहत उसके लिए और क्या हो सकती है।

दबाव (स्ट्रेस) और तनाव (स्ट्रेन) शब्दों का इस्तेमाल अक्सर भौतिक विज्ञानी और इंजीनियर्स करते आए हैं। वे इन्हें आसानी से समझ भी लेते हैं। हालांकि तनाव को परिभाषित करना बहुत मुश्किल है और मानव व्यवहार के अध्ययनों में इसे नापना तो और भी कठिन है। कुछ लोग थोड़े-से कठिन हालात में ही घबरा जाते हैं, जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जो बेहद दुष्कर परिस्थितियों का सामना भी बड़ी आसानी से कर लेते हैं। आज की आधुनिक जीवन शैली में, खासकर भीड़-भाड़ वाले शहरी इलाकों का वातावरण ही तनाव को बढ़ावा देने वाला होता है। तनाव को बढ़ाने वाले कारकों और इसे घटाने वाले माहौल की नीतियों पर शोध कार्य आम तौर पर समाज विज्ञानियों का क्षेत्र रहा है। यह बहुत ही पुराना सवाल है कि क्या मानव व्यवहार हमारी जेनेटिक संरचना से तय होता है या यह पूरी तरह आसपास के परिवेश पर निर्भर है? यह सवाल अक्सर ऐसी बहस को जन्म देता है जिससे समाज विज्ञानी और जीव विज्ञानी 'प्रकृति या परवरिश' के मसले पर एक-दूसरे के खिलाफ खड़े नज़र आते हैं।

नेचर के अक्टूबर 2011 के एक विशेष अंक में एक बहुत ही पठनीय आलेख दिया गया था, जिसके अनुसार अधिक तीव्र और लंबे समय तक बना रहने वाला तनाव वास्तव में ऐसी शारीरिक छाप छोड़ता है जो जैव-रासायनिक बदलावों के साथ घटनाओं के एक क्रमबद्ध सिलसिले को

जन्म देता है और जिसका प्रभाव जीन अभिव्यक्ति पर पड़ता है। इसका शुरुआती संपादकीय पाठकों को समाज विज्ञान और जीव विज्ञान के बीच विभाजन की उत्पत्ति की याद दिलाता है। इसमें फ्रांसिस गाल्टन को उद्धरित करते हुए कहा गया है 'प्रकृति वह है, जिसे लेकर मनुष्य इस दुनिया में आता है और परवरिश वे कारक हैं जो मनुष्य को जन्म के बाद प्रभावित करते हैं।'

पिछली एक सदी के दौरान आधुनिक जीव विज्ञान के विकास ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि केवल 'जैविक नियति' का विचार तर्कसंगत नहीं है। तंत्रिका वैज्ञानिक भी अब मानने लगे हैं कि मस्तिष्क की गतिविधियां परिवेश से काफी ज्यादा प्रभावित हो सकती हैं। इसके विपरीत समाज विज्ञान अक्सर उन वैज्ञानिक अनुसंधानों से दूरी बनाकर चलता है जो मानव व्यवहार के कारणों की पड़ताल करते हैं। विज्ञान से इस तरह से हठपूर्ण दूरी बनाकर चलने से कई बार बहुमूल्य उद्देश्यों की पूर्ति भी होती है। जैसा कि नेचर का संपादकीय कहता है, 'समाज विज्ञानियों ने बहस को बल प्रदान करके वैज्ञानिक अहंकार और प्रभाव को काबू में किया है और इस तरह से विद्वानों और समाज की सेवा की है।'

तनाव के अनगिनत कारण हो सकते हैं। हालांकि यह व्यक्तियों पर निर्भर करता है कि तनाव की परिस्थितियों में उनकी प्रतिक्रिया कैसी होती है। इनके अवलोकन से 'लचीलेपन की जड़ों' को समझा जा सकता है।

अधिकांश पाठक उस आलेख से निश्चित रूप से खुद को जोड़कर देखेंगे जिसमें तनाव और उससे सम्बंधित परिणामों के लिए शहरों के पतनशील परिवेश की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। एलिसन एबट लंदन के एक उपनगर में हुए अध्ययन का हवाला देते हैं, जिसमें इस बात का खुलासा हुआ कि वहां शिज़ोफ्रेनिया के मामलों में तेज़ी से वृद्धि हुई है। इस अध्ययन के अनुसार उस उपनगर में 1965 में प्रति एक लाख की आबादी में शिज़ोफ्रेनिया के मरीजों की संख्या 11 थी, जो 1997 में बढ़कर 23 प्रति लाख हो गई। यह वह दौर था, जब आबादी में इतनी बढ़ोतरी नहीं हुई थी। अब जबकि शहरों की आबादी खतरनाक ढंग से बढ़ रही है

और भारत के शहर तो सबसे तेज़ गति से बढ़ने वाले शहरों में शामिल हैं, मनोरोग से सम्बंधित स्वास्थ्य समस्याएं किस स्तर पर पहुंच गई होंगी, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

सवाल यह है कि क्या मस्तिष्क पर पड़ने वाले तनाव के असर को मापा जा सकता है? यह बात काफी पहले से पता है कि तनाव की स्थिति में तात्कालिक शारीरिक प्रतिक्रिया स्वरूप एड्रिनेलिन और कार्टीसॉल हार्मोन्स के स्तर में यकायक काफी बढ़ोतरी हो जाती है। ये हार्मोन मस्तिष्क से मिलने वाले संकेतों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होते हैं। यह एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया होती है, जिसमें रासायनिक और विद्युतीय दोनों से सम्बंधित कारक शामिल होते हैं। जैसे ही यह प्रक्रिया शुरू होती है, एड्रिनेलिन और कार्टीसॉल रक्त संचार को प्रभावित करने लगते हैं जिससे शक्कर का स्तर बढ़ जाता है। इससे पशुओं और मनुष्यों को भारी मात्रा में ऊर्जा मिलती है जो लड़ने और भागने दोनों के वास्ते ज़रूरी होती है। इस तरह तनाव की तत्काल प्रतिक्रियास्वरूप मस्तिष्क ऊर्जा के स्तर में बढ़ोतरी कर देता है।

क्या इन प्रतिक्रियाओं की निगरानी की जा सकती है और क्या ऐसी पद्धतियां उपलब्ध हैं, जिनके ज़रिए हम तनाव से अचानक उत्पन्न होने वाले इस नाटकीय घटनाचक्र के दीर्घकालीन परिणामों का आकलन कर सकें? ब्रेन इमेजिंग तकनीकों से अब मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों की कार्यप्रणाली को काफी करीब से देखना संभव हो सका है। नेचर के इस आलेख में वर्ष 2011 में हुए एक अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था, जो बताता है कि शहरों में ही पले-बढ़े लोगों का तनाव जैसी नकारात्मक भावनाओं से निपटने का तरीका उन लोगों से अलग होता है जो वयस्क होने के बाद शहरों में आते हैं। एफ. लेडरबोजेन और अन्य द्वारा किए गए इस अध्ययन को इस तरह से डिज़ाइन किया गया था ताकि अलग-अलग पृष्ठभूमि के वालंटियर्स के दो समूहों पर पड़ने वाले 'सामाजिक तनाव' के प्रभावों की पड़ताल की जा सके। अध्ययन में दिलचस्प बात यह सामने आई कि शहरों में ही पले-बढ़े वालंटियर्स और हाल ही में आकर शहरों में बसे वालंटियर्स के मस्तिष्क के विभिन्न

हिस्सों की तनाव के कारण सक्रियता अलग-अलग थी।

ये अध्ययन साबित करते हैं कि परिवेश सम्बंधी कारक जो समाज विज्ञानियों के क्षेत्राधिकार में आते हैं और शुद्ध विज्ञान माने जाने वाले तंत्रिका जीव विज्ञान व तंत्रिका रसायन शास्त्र के बीच कोई न कोई सम्बंध जरूर है। कई साक्ष्य साबित करते हैं कि मनोरोग के लिए एक विशिष्ट जेनेटिक रुझान ज़िम्मेदार होता है और परिवेश का तनाव इसे समस्या में तब्दील कर देता है। एक ताज़ा अनुसंधान एम.आर.आई. अध्ययनों और शिज़ोफ्रेनिया के लिए ज़िम्मेदार जीन के व्यापक विश्लेषणों को एक साथ लाने को प्रयासरत है। ऐसा प्रतीत होता है कि तनाव शहरों में ही पले-बढ़े लोगों के मस्तिष्क के उन हिस्सों को ज़्यादा सक्रिय करता है, जहां से नकारात्मक भावनाएं पैदा होती हैं। ऐसा उन लोगों में कम होता है जो शहरी पृष्ठभूमि के नहीं होते। *नेचर* में प्रकाशित रिपोर्ट अभी चल रहे ऐसे अनुसंधानों के बारे में बताती है जो किसी शहर के तनावपूर्ण हिस्सों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। इनमें भौतिक विज्ञानियों, भूवैज्ञानिकों और तंत्रिका वैज्ञानिकों को एक मंच पर लाने का प्रयास है।

तनाव के जैव-रासायनिक चिह्न अब और स्पष्ट होते जा रहे हैं। 2009 में चिकित्सा की नोबेल पुरस्कार विजेता एलिज़ाबेथ ब्लैकबर्न बताती हैं कि दीर्घकालीन तनाव और रोग का सम्बंध 'टीलोमीयर' में दिखाई दे रही गिरावट से हो सकता है। 'टीलोमीयर' डीएनए का वह हिस्सा होता है जो कोशिका विभाजन के साथ छोटा होता जाता है। हालांकि टीलोमीयर को वापिस बड़ा करने के लिए एंज़ाइम मौजूद होते हैं, लेकिन बढ़ती उम्र इसे छोटा करती जाती है। यह निष्कर्ष कि टीलोमीयर के छोटे होने का सम्बंध तनाव से भी है, संकेत करता है कि उम्र से पहले ही उम्र सम्बंधित बीमारियां तनाव की देन हो सकती हैं।

किंडरगार्डन उम्र के बच्चों से लेकर 80 साल की उम्र तक के बुजुर्गों के समूहों और छोटे-छोटे समूहों (100 से कम व्यक्ति) से लेकर हज़ारों की आबादी वाले विशाल समूहों के अध्ययनों से छोटे टीलोमीयर और तनाव के बीच सम्बंध दिखा है। ब्लैकबर्न और एपेल पेअरवाइज़ तीन सम्बंधों

की ओर संकेत करते हैं: तनाव और टीलोमीयर के छोटे होने के बीच सम्बंध, तनाव और रोग के खतरे के बीच सम्बंध तथा इन रोगों के खतरे का टीलोमीयर के छोटे होने के साथ सम्बंध। सवाल यह है कि क्या शोध के ये निष्कर्ष मानव स्वास्थ्य को बेहतर बनाने के व्यावहारिक तरीकों का वादा करते हैं? एक तरीका तो यह हो सकता है कि किसी ऐसी दवा की खोज की जाए जो बगैर किसी अवांछित दुष्प्रभाव के टीलोमीयर की गतिविधियों को बढ़ाने में मददगार हो (यह ऐसी प्रक्रिया होगी जिसमें कोशिकाएं क्षतिग्रस्त होने वाले टीलोमीयर को बहाल करेंगी)। लेकिन इसमें बहुत ही ठोस प्रयासों की जरूरत पड़ेगी और इस बात की भी कोई गारंटी नहीं होगी कि उसके तत्काल नतीजे मिलेंगे ही। तो फिर क्या इसका कोई और विकल्प है? ब्लैकबर्न और पेअरवाइज़ ऐसा तरीका सुझाते हैं जिसमें समाज विज्ञानियों के समर्थन की जरूरत पड़ेगी। वे सुझाते हैं: 'टीलोमीयर को छोटा होने से रोकने का एक तरीका यह हो सकता है कि उन परिस्थितियों में बदलाव किए जाएं जिनसे दीर्घकालीन तनाव उत्पन्न होता है और लोगों को अपने व्यवहार में कुछ बदलाव लाने में मदद की जाए।'

जिन बच्चों के साथ अच्छा बर्ताव नहीं होता या तनाव में जीने वाली माताओं के नवजात शिशुओं में भी संकुचित टीलोमीयर देखने को मिल रहे हैं और यह एक भयावह चेतावनी है। ब्लैकबर्न और पेअरवाइज़ इस तरह से समापन करते हैं: 'टीलोमीयर एक या एक से अधिक बार संकेत देते हैं कि खासकर युवावस्था में हृदय से ज़्यादा सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तनाव उतना ही घातक है, जितना कि धूम्रपान या अधिक मात्रा में फास्ट फूड का सेवन करना।'

क्या हमारे जीन्स और हमारे परिवेश के बीच कुछ अन्य सम्बंध भी हैं? हालिया अनुसंधान के अनुसार एपिजेनेटिक प्रक्रिया में इसका जवाब हो सकता है। 'सदमा कैसे लोगों को अलग-अलग तरह से प्रभावित करता है' का विश्लेषण करने के लिए ई.जे. नेसलर ने जो कार्य किया है, वह 'डीएनए या प्रोटीन्स में परिवेश-आधारित आण्विक परिवर्तन' की भूमिका की ओर संकेत करता है। डीएनए में यह आण्विक परिवर्तन जीन्स में मौजूद सूचनाओं को बदले बगैर

उनके व्यवहार में बदलाव को दर्शाता है। तनाव के जैव-रासायनिक संकेतों को पकड़ने के लिए बदलावों में अंतर करना ज़रूरी है कि ये अनुकूल हैं या हानिकारक। नेसलर का विवादास्पद कार्य सुझाता है कि 'तनाव के प्रति भेद्यता जीवों को विरासत में मिल सकती है।' अब इस बात को सुनिश्चित करने के लिए 'एनिमल मॉडल्स' उपलब्ध हैं कि तनावग्रस्त माता से तनाव क्या उसकी आने वाली संतान को भी हस्तांतरित हो सकता है।

तनाव और उससे उत्पन्न होने वाले मानसिक विकार निश्चित तौर पर एक कठिन चुनौती हैं। चूंकि जीव विज्ञान और पर्यावरण के बीच सम्बंधों की समझ बेहतर हुई है, इसलिए उम्मीद है कि इस चुनौती का कोई समाधान मिल सकेगा। इसके लिए ज़रूरी होगा कि समाज विज्ञानी और जीव विज्ञानी मिलकर काम करें। तनाव सम्बंधी शोधकार्य इन दोनों के बीच एक पुल का काम कर सकते हैं। (**स्रोत फीचर्स**)